



भारत में न्यायिक सक्रियता का उदभव

डॉ. अमित कुमार उपाध्याय, सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
योगेश कुमार कनौजिया, शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

अमूर्त

भारतीय लोकतंत्र में, न्यायापालिका विधानमंडल द्वारा तैयार किए गए कानूनों की व्याख्या करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और फिर सरकार को भेजी जाती है। यह केन्द्र और राज्य के बीच, राज्यों के समूह बनाम राज्य, और दूसरे राज्य, राज्य और व्यक्ति या दो लोगों के बीच मतभेद के विवादों का निपटारा और निर्णय करती है। इसी कारण इसे लोकतंत्र का रक्षक कहा जाता है। सरकार की तीनों शाखाएँ कार्यकुशलता और प्रभावशीलता बनाए रखने के लिए मिलकर काम करती है और उनके भीतर कोई भी अशांति प्रशासनिक उन्नति में बाधा डाल सकती है। न्यायपालिका कुशल संचालन के लिए तीन स्तम्भों के बीच आपसी समन्वय को नियंत्रित करने और अराजकता और शोषण के खिलाफ व्यक्ति और राज्य के अधिकारों की रक्षा करने के लिए उत्प्रेरक के रूप में भी काम करती है। यह कार्य, जिसे न्यायिक सक्रियता के रूप में संदर्भित किया जाता है, संविधान और देश के कानून की रक्षा भी करता है। भारत में मानव जीवन के हर क्षेत्र पर न्यायिक प्रणाली का प्रभाव रहा है, जिसने अक्सर नागरिक अधिकारों को आगे बढ़ाने, समानता को बढ़ावा देने सरकारों को जबाबदेह ठहराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जिसने समाज के कमजोर और गरीब वर्गों को उनके संवैधानिक अधिकारों को कायम रखते हुए लाभान्वित करके इसे एक अलग सरकारी एजेंसी के रूप में मान्यता दी गई और नामित किया गया। यह निबंध भारतीय न्यायिक सक्रियता के विकास, अर्थ और औचित्य को प्रदर्शित करता है। इस निबंध में न्यायिक सक्रियता से जुड़े कुछ केस के साथ – साथ आपातकाल से पहले और बाद में न्यायिक सक्रियता के बदलते पहलुओं की पूरी समझ प्रदान करना चाहता है।

महत्वपूर्ण शब्द – न्यायिक सक्रियता, संविधान, न्यायपालिका, जनहित याचिका, कानून की व्याख्या, लोकतंत्र।

परिचय

“न्यायिक सक्रियता की तुलना एक सटीक उपकरण से की जाती है, जो एक कुशल सर्जन द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले स्केलपेन के समान है, जो रामपुरी चाकू जैसे नुकीले हथियार की बजाय बीमारियों को ठीक करने में सक्षम है, जो नुकसान पहुंचा सकता है।” (न्यायमूर्ति जे.एस. वर्मा)

भारतीय लोकतंत्र के तीन स्तम्भ हैं – कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका। विधायिका न्यायपालिका द्वारा व्याख्या किए गए कानून बनाती है, जबकि कार्यपालिका उन्हें लागू करती है। हालांकि, जब कार्यपालिका, या विधायिका के भीतर कमियाँ पैदा होती हैं, जब विधायिका अत्यधिक शक्तिशाली हो जाती है और कार्यपालिका निरंकुश या लापरवाह हो जाती है, तो न्याय सुनिश्चित करने के लिए न्यायिक सक्रियता आवश्यक हो जाती है।

संविधान के प्रस्तावना में सटीक रूप से उल्लिखित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विधायी, न्यायिक और कार्यकारी शाखाओं की स्थापना की गयी है। यह कहना अपरासंगिक होगा कि विधान और न्यायपालिका ने अब तक अपने कर्तव्यों को निष्पक्षता और कुशलता से पूरा किया है। वे कानून पारित करने और सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक क्षेत्रों में गतिविधियों के कुशल संचालन को विनियमित करने में भी सफल रहे हैं, मानव जीवन के हर पहलू को छूते हुए और समाज के कमजोर सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए विशेष रूप से कड़ी मेहनत करते हुए। इसके अतिरिक्त, यह अच्छी तरह से पहचाना जाता है कि तीन स्तम्भों में से केवल एक, कार्यपालिका, इन कानूनों को लागू करने में सफल रही है। नतीजतन, देश के नागरिकों के लिए कई कानून, योजनाएं और नीतियां उपलब्ध कराई गईं, लेकिन कार्यपालिका की अक्षमता के कारण उन्हें अमल में नहीं लाया गया। जिससे वे केवल घोषणाएं बन कर रह गयीं, जिनका कोई उपयोगी उद्देश्य नहीं था। कई आर्थिक, सामाजिक कार्यों को पूरा न करने के कारण, गरीब और कमजोर लोगों को वंचित होना पड़ा, और जब इस तरह की शिकायतें अदालत में जाती हैं तो अदालतों का यह कर्तव्य बन जाता है कि वे सरकार की इस अकुशलता के कारण पीड़ित लोगों को न्याय दिलाएं। अपने लक्ष्यों को पूरा करने और लोगों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए, कानूनी व्यवस्था का दूसरा स्तम्भ न्यायपालिका इस बिन्दु पर कदम उठाती है। इसे न्यायिक सक्रियता कहा जाता है। सरकार के कार्यपालिका और विधायिका की ओर किया गए चूक न्यायिक सक्रियता को अनिवार्य बनाती है।

न्यायिक सक्रियता की परिभाषा

आर्थर श्लेसिंगर जूनियर, वह व्यक्ति थे जिन्होंने मूल रूप से न्यायिक सक्रियता शब्द का उल्लेख सन 1947 में फॉर्च्यून नामक पत्रिका में किया। परन्तु कोई भी निश्चित शब्द या कानूनी विवरण नहीं है।



न्यायिक सक्रियता का दायरा इतना व्यापक है कि हर न्यायविद और शिक्षाविद ने इसे एक अनूठी परिभाषा दी है।

ब्लैक लॉ डिक्शनरी न्यायिक सक्रियता की परिभाषा इस प्रकार है—“न्यायिक निर्णय लेने का दर्शन जिसके तहत न्यायाधीश अन्य कारकों के अलावा सार्वजनिक नीति के बारे में अपने व्यक्तिगत विचारों को अपने निर्णयों का मार्गदर्शन करने की अनुमति देते हैं।”

न्यायमूर्ति जे. एस. वर्मा के अनुसार “कार्यात्मक लोकतंत्र के संस्करण के लिए कानून को क्रियान्वित करने की सक्रिय प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है।” इसे न्यायिक सक्रियता कहा जाता है।

“न्यायालय की ओर से सक्रिय भूमिका की धारणा को सामान्यता : न्यायिक सक्रियता के रूप में परिभाषित किया जाता है।”²

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों की किसी कानून को गैर कानूनी घोषित करने की क्षमता, यदि वह समाज के व्यापक वर्ग को प्रभावित करता है, तथा सीधे-सादे तरीकों से न्याय को आगे बढ़ाने की क्षमता को न्यायिक सक्रियता के रूप में जाना जाता है।

भारत में न्यायिक सक्रियता की उत्पत्ति

भारतीय न्यायपालिका ने एक दशक से भी अधिक समय तक लगातार रूढ़िवादी, अपरंपरागत दृष्टिकोण बनाए रखा है, और न्यायिक सक्रियता के विचार के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील नहीं रही है।

न्यायिक सक्रियता भारत में केवल कभी-कभी और छिटपुट रूप से देखी गई थी,

यही कारण है कि इसे पहचानना मुश्किल था क्योंकि राष्ट्र इस विचार से अपरिचित था। न्यायिक सक्रियता का सबसे पहला सबूत 1893 का है, जब न्यायमूर्ति एस. महमूद³ इलाहाबाद उच्च न्यायालय के एक ऐसे मामले में असहमतिपूर्ण निर्णय जारी किया जो अभी लंबित था। इस निर्णय के परिणामस्वरूप भारत में न्यायिक सक्रियता के विचार ने एक नया अर्थ ग्रहण किया। न्यायिक समीक्षा की प्रकृति के बारे में न्यायालय की प्रारंभिक घोषणा को न्यायिक सक्रियता की शुरुआत माना जा सकता है।

अनुच्छेद 13 न्यायिक समीक्षा के लिए संवैधानिक आधार बनाता है, जो सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों को संविधान पूर्व कानूनों की व्याख्या करने और वर्तमान संविधान के सिद्धान्तों और मूल्यों के साथ उनकी अनुकूलता निर्धारित करने का अधिकार देता है। यदि कोई संघर्ष उत्पन्न होता है, तो ऐसे कानून तब तक अप्रभावित हो जाते हैं जब तक कि उन्हें संविधान के अनुरूप संशोधित नहीं किया जाता। भारतीय संविधान सर्वोच्च न्यायालय को अनुच्छेद 32, 141, 142 और 144 के तहत व्यापक शक्तियाँ प्रदान करता है, ताकि जब तक विधायिका कार्य नहीं करती या कार्यपालिका अपनी जिम्मेदारियों को ठीक से पूरा नहीं करती, तब तक अंतराल को दूर करने के लिए आवश्यक आदेश जारी कर सके।

न्यायिक सक्रियता के बढ़ने के कारण

किसी भी संविधान में न्यायिक सक्रियता में वृद्धि के सटीक कारण को इंगित करना बहुत मुश्किल है। क्योंकि यह वाक्यांश व्यापक है और दुनिया भर के विभिन्न लोगों के लिए इसके अलग-अलग अर्थ, दर्शन, और दृष्टिकोण हैं, इसलिए न्यायिक सक्रियता के आगमन और स्थापना के लिए कोई स्पष्ट या व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त कारण नहीं है। न्यायिक सक्रियता के बढ़ने के कुछ कारण निम्नलिखित हैं:-

- विधायिका और कार्यपालिका की लापरवाही और विफलता के कारण
- उत्तरदायी सरकार के पतन के कारण
- कानून और नितियों को लागू करने में कार्यपालिका की ओर से दक्षता की कमी और निष्क्रियता के कारण
- तीनों स्तम्भों के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए न्यायपालिका पर लगातार दबाव बनाने के कारण
- विधानमंडल के समुचित कार्य न करने के कारण

इस तथ्यों के कारण ही सर्वोच्च न्यायालय ने लोगों के हितों की रक्षा करने तथा अभिभावक आदि के रूप में कार्य करने के लिए मुखिया की भूमिका निभाने का निर्णय लिया है।

आपातकाल –पूर्व न्यायिक सक्रियता

भारत का सर्वोच्च न्यायालय शुरू में ब्रिटिश न्यायालयों की परंपराओं का पालन करते हुए एक तकनीकी संस्था के रूप में संचालित होता था। हालाँकि, समय के साथ, यह एक कार्यरत न्यायालय के रूप में परिवर्तित हो गया। इस बदलाव को चिन्हित करने वाला महत्वपूर्ण क्षण था। ए.के.



गोपालन बनाम मद्रास राज्य, यह मामला इस प्रश्न के इर्द-गिर्द घूमता है कि क्या 1950 के निवारक निरोध अधिनियम के तहत बिना सुनवाई के हिरासत में रखना संविधान के अनुच्छेद 14, 19, 21 और 22 के तहत प्रदत्त मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है।

जबकि चार न्यायाधीशों ने निवारक निरोध अधिनियम की वैधता को बरकरार रखा, दो न्यायाधीश इसके विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचे। हालाँकि चुनौती विफल रही, लेकिन इस मामले ने एक नई कानूनी प्रवृत्ति की शुरुआत की जो बाद के वर्षों में स्पष्ट हो गई।

वास्वव में 1950 के दशक की शुरुआत में न्यायालय ने सरकारी कार्यवाहियों को बरकरार रखा और न्यायिक सयंम का अभ्यास किया। न्यायालय और संसद के बीच प्राथमिक असहमति संपत्ति के अधिकारों के इर्द-गिर्द घूमती थी। हालाँकि, असुविधाजनक सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों को संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से दरकिनार कर दिया गया, विशेष रूप से 1 अनुसूचित जनजाति (1951), और 17 वां (1964) संशोधन, जिसने विभिन्न सम्पत्ति – सम्बन्धी कानूनों को न्यायिक समीक्षा से बाहर रखा। परिणामस्वरूप, जब सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार कम हो गया, तो उसने लोगों के अधिकारों को बढ़ाने के लिए संवैधानिक प्रावधानों की अधिक विस्तृत व्याख्या अपनाई।

1962 के मामले में **सकल समाचार पत्र प्राइवेट लिमिटेड बनाम भारत संघ**, सरकार ने 1956 के समाचार पत्र अधिनियम और 1960 के दैनिक समाचार पत्र आदेश के अनुसार, समाचार पत्र के पृष्ठों की संख्या को उनके मूल्य के सापेक्ष नियंत्रित करने की मांग की हालाँकि सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 19(1)(ए) द्वारा गारंटीकृत अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की व्याख्या को व्यापक बनाया। इसने फैसला सुनाया कि समाचार पत्रों को व्यवसायों के रूप में विनियमित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे विचारों और सूचनाओं के संवाहक के रूप में काम करते हैं।

1963 के मामले में **बालाजी बनाम मैसूर राज्य**, सर्वोच्च न्यायालय ने तार्किक रूप से आर्थिक पिछड़ेपन को सामाजिक की नींव के रूप में स्थापित किया। इसने इस बात पर जोर दिया कि पिछड़ेपन का मूल्यांकन केवल जाति के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि जाति और वर्ग के बीच अंतर किया जाना चाहिए।

इसके अलावा, इसने निर्धारित किया कि सभी आरक्षित श्रेणियों के लिए आरक्षण पचास प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। न्यायालय ने यह भी कहा कि अनुच्छेद 15 और 16, अनुच्छेद 14 के व्युत्पन्न के रूप में, सिद्धान्त के अनुरूप होने चाहिए। इसी तरह, 1964 के मामले में **चित्रलेखा बनाम मैसूर राज्य**, न्यायालय ने आरक्षण नीतियों पर तुलनीय सीमाएं लगाईं।

साठ के दशक के अंत में, सुप्रीम कोर्ट ने न्यायिक मामलों में अपनी भागीदारी बढ़ा दी। 1967 में, सुप्रीम कोर्ट ने न्यायिक मामलों में अपनी भागीदारी बढ़ा दी **गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य**, इस मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने छह से पांच के संकीर्ण बहुमत से फैसला सुनाया कि संसद संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से मौलिक अधिकारों को कम या सीमित नहीं कर सकती। जवाब में, संसद ने 24वां संशोधन पारित किया। इस संशोधन को ऐतिहासिक चुनौती का सामना करना पड़ा। **केशवानंद बनाम केरल राज्य**, मामला, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने 13 न्यायाधीशों की अपनी सबसे बड़ी पीठ के साथ यह पुष्टि की कि संसद संविधान के मूल ढांचे को छोड़कर किसी भी संवैधानिक प्रावधान में संशोधन कर सकती है। यह उदाहरण है और निर्वाचित संसद पर अनिर्वाचित न्यायपालिका की सर्वोच्चता को पुख्ता करता है।

1975 में, के मामले में **इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण**, सर्वोच्च न्यायालय ने 39 को अवैध करार दिया, संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित समानता के अधिकार को पूरी तरह से नकारने का हवाला देते हुए न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया कि लोकतंत्र के लिए आवश्यक स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों से समझौता नहीं किया जा सकता। इस फैसले ने संविधान के मूल ढांचे की अवधारणा को मजबूत किया। यह लोकतंत्र को संरक्षित करने के लिए एक कार्य करता है, जैसा कि 1977 में डर्वाकिन ने उजागर किया था।

आपातकाल के बाद न्यायिक सक्रियता

1977 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने राष्ट्रपति से लोकसभा भंग करने और चुनाव कराने की सिफारिश की। चुनावों के बाद, गांधी और उनकी कांग्रेस पार्टी को भारी हार का सामना करना पड़ा, जिसके कारण जनता पार्टी की सरकार बनी। इसके बाद, सरकार ने 44वां संविधान पारित किया।

संवैधानिक संशोधन, जिसने आपातकाल की घोषणा करना अधिक चुनौतीपूर्ण बना दिया और अनुच्छेद 20 और 21 में उल्लिखित अधिकारों की रक्षा की।

आपातकालीन अवधि के बाद, सुप्रीम कोर्ट ने अपनी प्रतिष्ठा को बहाल करने के प्रयास किए, जैसा कि



प्रोफेसर बक्सी ने उल्लेख किया है,¹¹ जिन्होंने देखा कि न्यायिक लोकलुभावनावाद, आंशिक रूप से, आपातकाल के बाद की स्थिति की प्रकृति थी। इसमें न्यायालय की छवि को पुनरस्थापित करने का प्रयास शामिल था, जो आपातकाल के दौरान लिए गए कुछ निर्णयों से खराब हो गई थी, और न्यायिक पराधिकरण के लिए नए, ऐतिहासिक औचित्य स्थापित करना भी शामिल था। इस अवधि के दौरान, न्यायिक सक्रियता की ओर झुकाव था, विशेष रूप से अनुच्छेद 14 और 21 की उदार व्याख्या में देखा गया।

मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978)¹² श्रीमति मेनिका गांधी ने अपने पासपोर्ट को जब्त करने का विरोध किया, यह तर्क देते हुए कि यह उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उल्लंघन करता है। न्यायालय ने फैसला सुनाया कि जब्ती असंवैधानिक थी क्योंकि यह प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों, अर्थात् "नेमो जुडेकस इन कॉसा सुआ" और "ऑडी अलटरम पार्टम" का पालन करने में विफल रही, जिससे यह शून्य हो गया। सर्वोच्च न्यायालय के इस ऐतिहासिक निर्णय ने गोपालन मामले को पलट दिया और संविधान के अनुच्छेद 21 और 19 में निहित व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्व की पुष्टि की। यह न्यायिक सक्रियता के आयाम का एक उल्लेखनीय उदाहरण है।

मिनर्वा लिमिटेड बनाम भारत संघ (1980)¹³ और में सर्वोच्च न्यायालय ने 42वें संशोधन की धारा 4 और 55 को अवैध घोषित कर दिया। संविधान के भाग 3 (मौलिक अधिकार) और भाग 4 (निर्देशक सिद्धान्त)के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए संशोधन को असंवैधानिक घोषित किया है, जिसका उद्देश्य सदभाव बनाए रखना है।

द डेनियल लतीफी मामला (2001)¹⁴ न्यायिक सक्रियता का एक प्रमुख उदाहरण है, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों की पीठ ने मुस्लिम महिलाओं के (तलाक का अधिकार) अधिनियम की धारा 3 (1)(ए) की विशेष रूप से व्याख्या की। इस व्याख्या में पतियों को इद्दत अवधि के दौरान भरण – पोषण और भविष्य के प्रावधान प्रदान करने का आदेश दिया गया, जिससे संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 से अधिनियम के विचलन को सुधारा गया।

द सिंगूर मामला (2016)¹⁵ यह न्यायिक सक्रियता का एक उल्लेखनीय उदाहरण है, जहां सर्वोच्च न्यायालय ने भूमि अधिग्रहण को निरस्त कर दिया तथा किसानों को भूमि वापस करने का निर्देश दिया, क्योंकि न्यायालय ने कहा कि अधिग्रहण से सार्वजनिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई।

जनहित याचिका (पीआईएल) और न्यायिक सक्रियता

जनहित याचिका का विकास न्यायिक सक्रियता को उद्देश्य प्रदान करने में एक महत्वपूर्ण घटक रहा है। इस तरह के मुकदमेबाजी के कारण न्यायालय को जनहित में मार्गदर्शन प्रदान करने और सार्वजनिक कर्तव्यों को बनाए रखने का मौका मिलता है। इस व्यवस्था ने भारत में आज प्रचलित कई मध्ययुगीन प्रथाओं को उजागर किया है, जिसमें बंधुआ और प्रवासी श्रमिकों, अछूतों, आदिवासी लोगों और सुरक्षात्मक घरों में रहने वाली महिलाओं के साथ-साथ देह व्यापार के पीड़ितों और किशोर संस्थानों में बच्चों का शोषण शामिल है। इस प्रयास का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना था कि सर्वोच्च न्यायालय पीड़ितों के रक्षक के रूप में कितनी उत्सुकता से कार्य करना चाहता है, दुरव्यहार, शोषण आदि के खिलाफ उनके अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा करना चाहता है। इसलिए, आम जनता को न्याय दिलाने के लिए एक जनहित याचिका शुरू करके, सर्वोच्च न्यायालय ने आर्दश कार्यकर्ता की भूमिका भी निभाई। जनहित याचिका प्रक्रिया का दुरुपयोग हुआ क्योंकि कई तुच्छ मामले सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष लाए गए, जिनमें उच्च वेतन की मांग करने वाले मजदूर, सड़क चिन्ह पेंटिंग शिक्षक की हड़ताल, बैंकरो की हड़ताल, बसों की कमी, गंदे अस्पताल, स्टॉक एक्सचेंज में अनियमितताएं शामिल हैं। एक वैध जनहित याचिका में यह दर्शाया जाना चाहिए कि न्यायालय के समक्ष इसे दाखिल करने वाले व्यक्ति का आम नागरिक के रूप में अपनी स्थिति से परे मामले के समाधान में कोई व्यक्तिगत हित नहीं होता। यह कानून के शासन को बनाए रखने और सरकारी संगठनों की स्थिरता, जवाबदेही और खुलेपन को सुनिश्चित करने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण है। हालाँकि जनहित याचिका अब उन लोगों के लिए उपकरण बन गई है जो लालची थे, या राजनीतिक, वाणिज्यिक या व्यक्तिगत स्कोर तय करना चाहते थे। इस भारी कुर्बबंधन के परिणामस्वरूप न्यायपालिका और अन्य लोकतांत्रिक संस्थाओं को काफी नुकसान होगा। **मेनका गांधी मामला¹⁶** कई कार्यवाहियों के लिए एक मंच प्रदान किया, और परिणामस्वरूप न्यायिक सक्रियता कई अदालती फैसलों में देखी जा सकती है। पहले, केवल "लोकस स्टैडी" वाले लोग ही जनहित याचिका दायर कर सकते थे, हालाँकि **जस्टिस पी. एन. भगवती और वी. आर. अय्यर¹⁷** ने "लोकस स्टैडी" की परिभाषा बदल दी।

बंधु मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ¹⁸, **हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य¹⁹**, **पीयूडीआर बनाम भारत**



संघ²⁰ और आजाद रिक्शा चालक यूनियन बनाम पंजाब राज्य²¹, ये कुछ जनहित याचिकाएं हैं जो गरीबों के हितों की रक्षा के लिए पहली बार दायर की गयी थी।

यौन उत्पीड़न से संबन्धित जनहित याचिका – विशाखा बनाम राजस्थान राज्य²²

यदि न्यायालय ने जनहित याचिकाओं की भीतरी मात्रा पर नियंत्रण करने के लिए कोई सख्त कदम नहीं उठाया, तो न्यायिक प्रक्रिया एक नाटक बनकर रह जाएगी, क्योंकि इन याचिकाओं के कारण वास्तविक मामलों में न्याय मिलने में बाधा उत्पन्न होती है तथा देरी होती है, जिन पर तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

निष्कर्ष

संविधान, कानून के शासन और संवैधानिकता की न्यायपालिका सुरक्षा न्यायिक सक्रियता द्वारा दृढ़ता से स्थापित की गई है, जो समाज में विभिन्न हित समूहों द्वारा लाए गए संकट के समय सुरक्षा जाल के रूप में कार्य करती है। न्यायपालिका यह सुनिश्चित करने के लिए जिम्मेदार है कि न्याय किया जाए और व्याख्याएं जनता के सर्वोत्तम हितों को ध्यान में रखते हुए की जाए। इस तथ्य के कारण कि न्यायाधीशों के पास अधिकार की कमी है और वे जनता के विश्वास पर निर्भर हैं, न्यायपालिका ने हाल ही में अन्य दो अंगों के सामने अपना स्थान खो दिया है। दूसरा, अपवादों को छोड़कर, जब न्यायाधीश अति प्रतिक्रिया करते हैं और सीमाओं से बाहर कदम रखते हैं, तो इसके परिणाम होते हैं, जिससे अदालतों के संचालन के पारंपरिक तरीके को बनाए रखना चुनौतीपूर्ण हो जाता है। अदालत को अस्थिर होने से रोकने के लिए, न्यायिक सक्रियता और न्यायिक अतिक्रमण के बीच स्पष्ट अंतर होना चाहिए। पूरे देश में शांति, समृद्धि, कानून और व्यवस्था को बनाए रखने के लिए, सरकार को अधिक प्रभावी और सुचारु रूप से काम करना चाहिए। अदालत को सरकार द्वारा किए गए गलत कामों और फैसलों को छिपाने और सुधारने के लिए ढाल के रूप में काम करने के लिए अधिक काम नहीं करना चाहिए। न्यायालय का काम न्याय लागू करना, कल्याण को बनाए रखना और सुमदाय के हित में कानून की व्याख्या करना है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर्थर श्लेसिंगर जूनियर – “द सुप्रीम कोर्ट : 1947” फॉक्स पत्रिका में प्रकाशित, 1947
2. चटर्जी सुशांत, “लोक प्रशासन के लिए ‘क्या न्यायिक सक्रियता वास्तव में विधायी अराजकता और कार्यकारी अत्याचार के लिए निवारक है?’” प्रशासक, खंड XLII, अप्रैल-जून 1997, पृ.9, पृ.1 पर
3. ‘भारत में न्यायिक सक्रियता का उद्भव एवं विकास’, शोधगंगा, पृष्ठ 79, http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bistream/10603/32340/8/09_chapter%203.pdf पर उपलब्ध है।
4. एआईआर 1998 एससी 889.
5. एआईआर 1950 एससी 27.
6. बलाजी बनाम मैसूर राज्य, एआईआर 1963 एससी 649.
7. चित्रलेखा बनाम मैसूर राज्य, एआईआर 1964 एससी 1823.
8. एआईआर 1967 एससी 1643.
9. एआईआर 1973 एससी 1461.
10. एआईआर 1975 एससी 2299
11. उपेन्द्र बक्शी, “भारतीय सर्वोच्च न्यायालय और राजनीति”, (1980) 79-120.
12. एआईआर 1978 एससी 597.
13. एआईआर 1980 एससी 1789.
14. डैनियल लतीफी बनाम भारत संघ (2001) 7 एससीसी 740
15. केदार नाथ यादव बनाम पश्चिम बंगाल राज्य और अन्य (2001) 7 एससीसी 740
16. एआईआर 1978 एससी 597.
17. जेरेमी कपूर, ‘गरीबी और संवैधानिक न्याय : भारतीय अनुभव’, मर्सर लॉ रिव्यू 44 (1993) 611, 614-615.
18. एआईआर 1984 एससी 802,816.
19. एआईआर 1979 एससी 1360.
20. एआईआर 1982 एससी 1473, 1476.
21. 1981 एआईआर 14,1981 एससीआर (1) 366.
22. एआईआर 1997 एससी 477